राजद्रोह क़ानून : देशभक्ति से देशद्रोह तक

सनी कुमार

आज़ादी के सत्तर साल बाद भी राजद्रोह / देशद्रोह (सिडीशन)[1] क़ानून भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) में बना हुआ है। अंग्रेज़ों के ज़माने में राजद्रोह का आरोप उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष करने वाले देशभक्तों पर लगाया जाता था, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक भारत में इसका इस्तेमाल राजसत्ता अक्सर ऐसी राजनीतिक शक्तियों को देशद्रोही ठहराने के लिए करती हुई दिखती है जो उसके सामने सहमति में सिर हिलाने से इंकार कर देती हैं। इसी कारण से इस कानून के औचित्य पर लम्बे अरसे से बहस चल रही है। पिछले चार साल में विरोध के प्रत्येक स्वर को देशद्रोह क़रार देने के राजनीतिक रवैये और फ़रवरी, 2016 में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रों पर लगे राजद्रोह के मुक़दमे ने इस बहस को और तीखा कर दिया है। हालाँकि इस बहस में हस्तक्षेप करने के लिए कुछ बेहतरीन लेख लिखे गये हैं, लेकिन इस क़ानून के ऐतिहासिक विकास और इसकी समकालीन भूमिका के एक गहरे आलोचनात्मक अध्ययन की कमी महसूस होती रही है। अनुष्का सिंह की हाल ही में प्रकाशित किताब *सिडीशन इन लिबरल डेमॉक्रैसीज़*

---

[1] 'सिडीशन' शब्द का हिंदी अनुवाद 'राजद्रोह' माना जाता रहा है. लेकिन पिछले दिनों इसको अख़बारों और आम बोलचाल में देशद्रोह भी कहा गया है जिससे इस शब्द को नये मायने मिल गये हैं. यह लेख 'राजद्रोह' शब्द के ऐतिहासिक उद्‌भव और समकालीन भारत के संदर्भ में इसके बदलते मायनों की कहानी भी कहता है, इसीलिए मैं यह नहीं कहना चाहता कि कौन-सा अनुवाद आज के दौर में ज़्यादा सही है.
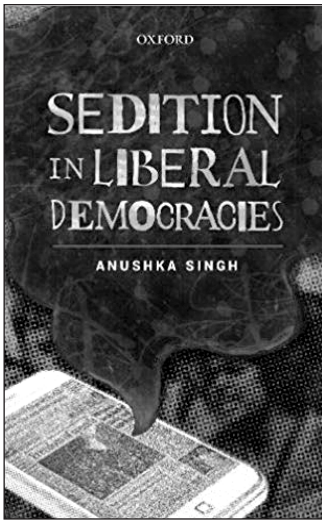
सिडिशन इन लिबरल डेमॉक्रैसी
अनुष्का सिंह
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,
नयी दिल्ली
मूल्य : 995 रु., पृष्ठ : 406

ने इस कमी को बख़ूबी पूरा किया है। मेरे इस लेख में इस पुस्तक की समीक्षा के बहाने राजद्रोह क़ानून से जुड़े ज़रूरी मुद्दों पर चर्चा की जाएगी।

हालाँकि इस किताब में आठ अध्याय हैं, पर इसे मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले हिस्से में राजद्रोह क़ानून से जुड़े सैद्धांतिक मसलों पर चर्चा के साथ-साथ ब्रिटेन, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और भारत में उसके इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। किताब के दूसरे हिस्से में उत्तर-औपनिवेशिक भारत में इस क़ानून के इस्तेमाल की क्षेत्रीय विशिष्टताओं और अलग-अलग मुक़दमों के फ़ैसलों के प्रभाव की सूक्ष्म विवेचना की गयी है। लेखिका के अनुसार राजद्रोह एक प्रकार की राजनीतिक उक्ति या राज्य अथवा सरकार के ख़िलाफ़ व्यक्त की गयी वह अभिव्यक्ति है जिसे न्यायसंगत नहीं माना जा सकता और इसीलिए ऐसे विचार प्रकट करने वालों को बोलने अथवा अभिव्यक्ति की आज़ादी को संवैधानिक अधिकार द्वारा भी संरक्षित नहीं किया जा सकता है। लेखिका अपने पहले अध्याय में इस परिभाषा के इर्द-गिर्द हुई लम्बी सैद्धांतिक बहसों का संक्षिप्त विवरण देती हैं जिसके केंद्र में यह प्रश्न है कि क्या एक उदारतावादी और लोकतांत्रिक देश के नागरिकों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इस तरह से अंकुश लगाना उचित व न्यायसंगत है?

लेखिका सी.डी. मैकफ़र्सन, डेविड हेल्ड, ए.वी. डाइसी इत्यादि के उदारतावादी लोकतंत्र के बारे में व्यक्त विचारों की चर्चा करती हैं। शांताल मोउफ़्फ़ के अनुसार जहाँ एक ओर जनतांत्रिक परम्परा राजनीतिक बराबरी की बात करती है वहीं दूसरी ओर उदारतावादी विचारधारा राज्य की ताक़त को सीमित कर व्यक्ति के अधिकार और स्वतंत्रता की गारंटी करने को प्रमुखता देती है, भले ही संदर्भ जनतांत्रिक राज्य का ही क्यों न हो। इन दोनों परम्पराओं (जनतांत्रिक और उदारतावादी) का समन्वय कभी नहीं किया जा सका। मोउफ़्फ़, कार्ल श्मिट से काफ़ी प्रभावित थीं।[2] श्मिट का यह तर्क था कि आधुनिक उदारतावादी अवतार से पहले जनतांत्रिक परम्परा ने सबको राजनीतिक बराबरी देने की बजाय उच्च वर्ग के लोगों के बीच वास्तविक बराबरी के सिद्धांत को विकसित किया था। इस चर्चा के माध्यम से अनुष्का सिंह उदारतावादी जनतंत्र के मौलिक सिद्धांतों में निहित द्वंद्व की ओर इशारा करती हैं जिसका उदारतावादी राज्यों द्वारा राजद्रोह जैसे क़ानून बार-बार लाने से गहरा संबंध है। लेकिन ऐसा लगता है कि वे इस महत्त्वपूर्ण चर्चा को कोई निष्कर्ष निकाले बिना बीच में ही छोड़ देती हैं जिसकी वजह से उनके कुछ तर्कों पर उदारतावादी सिद्धांत के दायरे में सीमित हो जाने की समस्या का साया बना रहता है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के उदारतावादी सिद्धांत के सबसे प्रख्यात विचारक थे जेम्स स्टुअर्ट मिल, जो अपनी रचना *ऑन लिबर्टी* में समाज के लिए असहिष्णु बहुसंख्यक मत के ख़तरों की बात करते हुए उससे मुक्ति के लिए हर व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्त्व की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्र अभिव्यक्ति समाज के सामने सत्य को सामने लाने और प्रबुद्ध व जागरूक निर्वाचक-वर्ग बनाने के लिए ज़रूरी है। मिल के सिद्धांत ने अलेक्जेण्डर मिक्लिजोंन, स्केनलोन इत्यादि कई विचारकों को प्रभावित किया। अनुष्का सिंह ने इस किताब में इन विचारकों के अध्ययन

[2] अनुष्का सिंह (2018) : 6-7.

अनुष्का सिंह की यह किताब भारत में राजद्रोह और उसके जैसे अन्य क़ानूनों के माध्यम से राज्य द्वारा निचले स्तर पर सामाजिक कार्यकर्ताओं और आंदोलनों से जुड़े लोगों को मुक़दमों में बिना दोष साबित किये सालों तक जेल में बंद रखने और सामाजिक बदनामी झेलने का बेहतरीन रूप से अध्ययन करती है। यह एक ऐसा आयाम है जिसे अन्य क़ानून और न्याय व्यवस्था से जुड़ी अकादमिक चर्चाओं में ज़्यादा तवज्जो नहीं दी जाती।

के माध्यम से 'एक्सट्रीम स्पीच' की एक व्यापक श्रेणी का अध्ययन किया है जिसमें हेट स्पीच, अश्लील अभिव्यक्ति और राजद्रोह इत्यादि शामिल हैं।

अनुष्का ने जे.एल. ऑस्टिन द्वारा प्रवर्तित स्पीच एक्ट थियरी का 'एक्सट्रीम स्पीच' के अध्ययन में उपयोग किया है। वे इसकी मदद से हानिकारक उक्तियों और उसके कारण हुई घटनाओं के बीच के संबंध को समझना चाहती हैं। लेकिन कई बार ऐसा लगता है कि राजद्रोह को स्पीच और उसके प्रभाव के रूप में देखना इस क़ानून के राजनीतिक निहितार्थ से ध्यान हटा देता है। लेखिका द्वारा दिया गया ओलिवर वेंडेल होम्स जूनियर का यह उद्धरण एकदम सटीक है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता उन लोगों की अभिव्यक्ति के बारे में नहीं है जो हमसे सहमत हैं— बल्कि उनके बारे में है जो हमसे असहमत हैं।[3] इस किताब के कई अध्यायों में यह उभर कर आता है कि राजद्रोह का क़ानून राज्य अथवा सरकारों द्वारा अपने विरोध में किये गये कथनों को दण्डित कर उन्हें नियंत्रित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है और इन कथनों के समाज पर हो रहे हानिकारक असरात के दावों में कोई सच्चाई नहीं है। भारत के इतिहास में शायद ही कोई मामला हुआ है जहाँ आरोपी द्वारा दिये गये वक्तव्य ने समाज अथवा राज्य को असंतुलित करने की स्थितियाँ पैदा कर दी हों, बावजूद इसके कि अभियोजन पक्ष का दावा हर बार यही रहता है। दूसरे शब्दों में आरोपित 'स्पीच' का ऐसे किसी 'एक्ट' से शायद ही कोई संबंध होता है जिससे ठोस 'विद्रोह' की स्थिति पैदा हुई हो। फिर भी सैद्धांतिक रूप से राजद्रोह क़ानून को समझने के लिए ऐसी उक्तियों के समाज पर हुए प्रभाव को स्पीच-एक्ट थियरी के माध्यम से अध्ययन करने का लेखिका का प्रयास इस बात की ओर साफ़ इशारा करता है कि वे खुद उदारतावादी दृष्टिकोण के अनुरूप स्वतंत्र अभिव्यक्ति की सीमाओं को समझने के प्रयासों के बाहर नहीं निकल पाई हैं।

पहले अध्याय में लेखिका ने चार उदारतावादी जनतंत्रों— इंग्लैण्ड, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और भारत में राजद्रोह क़ानून का राजनीतिक अपराध के बतौर विकास का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इंग्लैण्ड का अध्ययन मुख्यत: जेम्स स्टीफ़ेंस की किताब *हिस्ट्री ऑफ़ क्रिमिनल लॉ इन इंग्लैण्ड* पर आधारित है। स्टीफ़ेंस की नज़र में ट्रीज़न और राजद्रोह, दो ऐसे अपराध हैं जो राज्य की आंतरिक शांति और व्यवस्था के ख़िलाफ़ हैं। जहाँ ट्रीज़न के अपराध में हिंसा निहित है वहीं राजद्रोह का क़ानून शाब्दिक या किसी अन्य क़िस्म के दुष्प्रचार या षड्यंत्र के माध्यम से सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष की भावना फैलाने को दण्डित करता है। इस अपराध का हिंसा से संबंध क़ानूनी रूप से ज़रूरी नहीं है।

[3] अनुष्का सिंह (2018), वही : 14.

अमेरिका में 1812 में पारित यू.एस. कोड के टाइटल 18, पार्ट 1, अध्याय 115 में राजनीतिक अपराधों की चर्चा की गयी है जो इंग्लैण्ड की क़ानूनी शब्दावली से प्रेरित लगती है और उसी तरह ट्रीज़न और राजद्रोह को एक जैसे अपराध के श्रेणी में रखती है। ऑस्ट्रेलिया में 1995 से लागू ऑस्ट्रेलियन क्रिमिनल कोड का अध्याय 5 भी उसी तर्ज़ पर राजनीतिक अपराध की व्याख्या करता है। अंतर सिर्फ़ इतना है कि 2005 में 'राजद्रोह' शब्द को हटा कर उसकी जगह 'अर्जिंग वायलेंस' (हिंसा के लिए उकसाना) शब्द शामिल कर लिया गया।

औपनिवेशिक भारत में पारित किये गये भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) के अध्याय 6 में राज्य के ख़िलाफ़ अपराधों का ज़िक्र किया गया है जिसमें ट्रीज़न शब्द का ज़िक्र किये बिना उससे जुड़ी गतिविधियों— सरकार के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने और षड्यंत्र करने, उसमे मदद करने अथवा किसी मित्र राज्य के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने के प्रयासों— को दण्डित करने का प्रावधान है। राजद्रोह को भी इन्हीं तरह के अपराधों की श्रेणी में रखा गया है। भारत में राजद्रोह क़ानून की परिकल्पना इस रूप में की गयी कि यह राज्य के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों को होने से पहले ही रोक सके। यह मुख्यत: विद्रोह की भावना को किसी भी रूप में प्रसारित करने को दण्डित करती है। कोई भी विरोध का स्वर अगर विद्रोह की मंशा को दर्शाए तो उसे राजद्रोह माना जा सकता था। अभियोजन पक्ष का मुख्य लक्ष्य व्यक्त किये गये विचारों में इस मंशा को सिद्ध करना था न कि किसी हिंसा से इसका संबंध स्थापित करना। जेम्स स्टीफ़ेंस ने स्वयं एक जगह इस बात को क़ुबूल किया है कि राजद्रोह को हिंसा से अलग कर राज्य के प्रति असंतोष (डिसअफ़ेक्शन) की भावना व्यक्त करने से जोड़ना इस क़ानून को अस्पष्ट बना देता है। राजद्रोह जैसे अन्य क़ानून जैसे हिंसा/दंगे की स्थिति पैदा करना, राज्य अथवा सरकार के ख़िलाफ़ राजनीतिक षड्यंत्र करना आदि में भी अपराध होने से पहले ही उसे रोकने और अपराधियों को सजा देने का प्रावधान था लेकिन इन सब क़ानूनों में हिंसा की सम्भावना निहित है जो कि राजद्रोह क़ानून में बिल्कुल नहीं थी।

जिस तरह यह क़ानून न सिर्फ़ अंतत: राज्य अथवा सरकार के ख़िलाफ़ किसी भी विचार या उनकी नीति के किसी भी विरोध को दण्डित करने को खुली छूट देता था और जिस तरह इसमें राज्य, सरकार, राष्ट्र के भेद बेमानी हो जाते थे, उसका सीधा असर राजनीतिक अभिव्यक्ति पर पड़ता था। आधुनिक दौर के किसी भी राज्य की परिकल्पना राजनीतिक अभिव्यक्ति पर लगाम लगा कर नहीं की जा सकती। एक औपनिवेशिक राज्य में भी अधिकारिक रूप से जनता से राज्य की ग़लत नीतियों की निंदा करने का राजनीतिक अधिकार नहीं छीना जा सकता था। लेकिन राजद्रोह जैसा क़ानून जनहित में क़ानून व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर या विरोध को विद्रोह की भावना के रूप में चिह्नित करके राजनीतिक अभिव्यक्ति को नियंत्रित करने की राज्य की मंशा को दर्शाता था। जहाँ 'एक्सट्रीम स्पीच' से जुड़े अन्य उदाहरणों जैसे ईश-निंदा, अश्लील साहित्य या उन्मादी भाषण इत्यादि में व्यक्ति अथवा समुदाय उत्पीड़ित होते हैं और राज्य न्याय करता है, वहीं राजद्रोह में अभियुक्त के ख़िलाफ़ राज्य ख़ुद ही शिकायतकर्ता होता है और खुद ही न्याय करता है।

राजद्रोह क़ानून के उद्भव को इंग्लिश कॉमन लॉ में ट्रीज़न के अपराध से जुड़े क़ानूनों में चिह्नित किया जा सकता है और इसकी सबसे पुरानी परिकल्पना राजा के ख़िलाफ़ परिवाद के रूप में 1275 में पारित *स्टैचूट ऑफ़ वेस्टमिंस्टर* में मिलती है। इस अपराध की गम्भीरता और इस क़ानून के उद्भव को राजा के दैवी अधिकार को केंद्र में रखे बिना नहीं समझा जा सकता। जल्द ही इस क़ानून का दायरा राजा से बढ़ कर राज्य एवं उसके अधिकारियों तक हो गया। 1606 की परिभाषा के अनुसार राज्य के किसी भी अधिकारी के ख़िलाफ़ भड़काने वाले शब्द कहने, परिवाद के लेख छपवाने, षड्यंत्र करने, नफ़रत फैलाने या उसे नीचा दिखाने को अपराध माना गया। इन शब्दों व लेखों की सत्यता का अपराध से कोई संबंध नही था। इन अपराधों को बाद में 'ट्रीज़न बाय वर्ड्स' की श्रेणी में रखा गया।

> अनुष्का सिंह उदारतावादी जनतंत्र के मौलिक सिद्धांतों में निहित द्वंद्व की ओर इशारा करती हैं जिसका उदारतावादी राज्यों द्वारा राजद्रोह जैसे क़ानून बार-बार लाने से गहरा संबंध है। लेकिन ऐसा लगता है कि वे इस महत्त्वपूर्ण चर्चा को कोई निष्कर्ष निकाले बिना बीच में ही छोड़ देती हैं जिसकी वजह से उनके कुछ तर्कों पर उदारतावादी सिद्धांत के दायरे में सीमित हो जाने की समस्या का साया बना रहता है।

1661 में ट्रीज़न के क़ानून से अलग एक राजद्रोह एक्ट पारित किया गया हालाँकि इसे बाद में हटा दिया गया और इसके प्रावधानों को ट्रीज़न ऐंड फ़ेलॅनी एक्ट 1848 में मिला दिया गया। जैसे-जैसे इंग्लैण्ड में जनतांत्रिक और नागरिक अधिकारों की चेतना का विकास हो रहा था, वैसे-वैसे राज्य की निंदा को दण्डित करता यह क़ानून काफ़ी अलोकप्रिय होता जा रहा था। इंग्लैण्ड में हुए 1819 के पीटरलू जनसंहार ने विरोध के स्वर को और मज़बूत कर दिया। जहाँ एक ओर जेम्स स्टीफ़ेंस ने इंग्लैण्ड के राजद्रोह क़ानून में हिंसा की सम्भावना को रोकने का प्रावधान जोड़ने की ओर इशारा किया, वहीं उन्नीसवीं सदी के अंत तक कई अदालती निर्णय भी अभिव्यक्ति की आज़ादी के पक्ष में आये। लेखिका प्रथम युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड में डिफ़ेंस ऑफ़ रिएल्म एक्ट पारित होने के साथ कम्युनिज़म से लड़ने के नाम पर राजद्रोह जैसे क़ानूनों के इन सभी देशों में बढ़ते इस्तेमाल की चर्चा करती हैं। इस दौर में राज्य और क़ानून के बदले चरित्र और आपसी संबंध पर ज्यॉर्जियो अगम्बेन और नासिर हुसैन के विचारों के ज़िक्र से यह चर्चा और भी समृद्ध हो सकती थी।[4]

अनुष्का सिंह बीसवी सदी के इंग्लैण्ड में इस क़ानून की हो रही लगातार निंदा, प्रतिकूल अदालती निर्णय व इस क़ानून को निरस्त करने की माँग को लेकर चले अभियान की विस्तृत चर्चा करती हैं। इन सबके फलस्वरूप 2009 में यह क़ानून इंग्लैण्ड में ख़त्म कर दिया गया। लेकिन दूसरी ओर टेररिज़म एक्ट जैसे कई अन्य क़ानून पारित किये गये जो आतंकवाद के नाम पर अभिव्यक्ति पर कई तरह की दण्डात्मक पाबंदियाँ लगाते हैं। लेखिका ने अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में राजद्रोह शब्द के क़ानूनी इतिहास और पिछले दशकों में इस शब्द के क़ानूनी शब्दावली से बाहर किये जाने की प्रक्रिया का अध्ययन किया है जिसकी विस्तृत चर्चा इस लेख में सम्भव नहीं है।

तीसरे अध्याय में अनुष्का सिंह राजद्रोह क़ानून के औपनिवेशिक भारत में न्यायिक व राजनीतिक इस्तेमाल का अध्ययन करती हैं। 1860 के दशक में राजद्रोह क़ानून के भारतीय दण्ड संहिता में सम्मिलित किये जाने को कुछ इतिहासकारों ने उस दौर में हो रही वहाबी गतिविधियों के संदर्भ में देखा है। 1870 की भारतीय दण्ड संहिता के सेक्शन 5 के एक्ट XXVII में राजद्रोह को कुछ इस तरह परिभाषित किया गया— कोई व्यक्ति अगर बोल कर, छपवा कर, चित्र, इशारों व अन्य माध्यम से ब्रिटिश भारत में क़ानून द्वारा स्थापित सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष (डिसअफ़ेक्शन) फैलाता है अथवा फैलाने की कोशिश करता है तो उसे आजीवन कारावास या कोई और सज़ा जिसमें जुर्माना भी जोड़ा जा सकता है, या तीन साल तक की क़ैद जिसमें जुर्माना जोड़ा जा सकता है, की सज़ा दी जाएगी, इस क़ानून के साथ एक व्याख्या भी जोड़ी गयी जिसके अनुसार— सरकार के किसी निर्णय से असहमति इस रूप में व्यक्त करना जो सरकार के क़ानूनी प्राधिकार के अनुपालन की प्रवृति के अनुरूप हो, को असंतोष फैलाना नहीं माना जाएगा।[5]

---

[4] ज्यॉर्जियो अगम्बेन (2005). ; नासिर हुसैन (2003).

[5] अनुष्का सिंह (2018) : 139.

इस क़ानून के बारे में जेम्स स्टीफ़ेंस ने यह कहा था कि सरकार के प्रति वफ़ादार और आज्ञाकारी लोगों की अभिव्यक्ति को इससे कोई ख़तरा नहीं है। लेकिन इस सवाल को उस दौर में किसी ने नहीं उठाया कि कौन-सी अभिव्यक्ति आज्ञाकारी और वफ़ादार दृष्टिकोण से की जा रही है और कौन-सी नहीं, इसके क़ानूनी मूल्यांकन का आधार क्या होगा? पहले कुछ मामलों में यह ज़ाहिर हो गया कि इस मूल्यांकन को लेकर क़ानूनी प्रावधान बहुत साफ़ नहीं है और ब्रिटिश न्यायाधीशों ने मनमाने रूप में इसकी व्याख्या की। 1890 के दशक में प्रतोड, अम्बा प्रसाद और बाल गंगाधर तिलक जैसे सभी प्रख्यात मामलों में न्यायाधीशों ने 'डिसअफ़ेक्शन' (असंतोष) शब्द की मनमानी व्याख्या की और अभियोजन पक्ष के सभी तर्कों को बग़ैर किसी साक्ष्य की पुष्टि के मान लिया। यह साफ़ था कि तेज़ी से उभरते अंग्रेज़ी और देसी भाषा के अख़बारों को नियंत्रित करने के लिए अंग्रेज़ों द्वारा प्रकाशकों और लेखकों में इस क़ानून का डर बिठाया जा रहा था। सरकार की नीतियों की निंदा को राजद्रोह के रूप में देख कर जज सजा सुना रहे थे जबकि क़ानून में ऐसी निंदा को दण्डित करने का प्रावधान नहीं था। नतीजतन 1898 में इस क़ानून में संशोधन किया गया। क़ानून में असंतोष शब्द के साथ सरकार के प्रति नफ़रत (हेट्रेड), अवमानना (कंटेम्प्ट) और अनिष्ठा (डिस्लॉयल्टी) को भी उसी तरह दण्डित करने का प्रावधान जोड़ दिया गया जिससे अभियोजन और आसान हो गया।[6] इस संशोधन के फलस्वरूप सज़ाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी। उस दौर के कई मुक़दमों में क़ानूनी और ग़ैरक़ानूनी आलोचना की दूरी धूमिल होती दिखी। एक उदाहरण के तौर पर तिलक के ऊपर हुए दूसरे राजद्रोह मुक़दमे को लिया जा सकता है जिसमें यह अंतर्विरोध तब सामने आया जब उनके लेखों पर अंग्रेज़ी हुक़ूमत के ख़िलाफ़ लोगों को उकसाने के इलज़ाम लगे। इन लेखों में तिलक ने न्यूज़पेपर (इनसाइटमेंट टू ओफेंस) एक्ट और सिडीशियस मीटिंग एक्ट की आलोचना की थी। तिलक ने अपने बचाव में यह तर्क दिया कि कार्यपालिका की निंदा को सरकार या राज्य की निंदा नहीं मानना चाहिए। तिलक ने यह तर्क भी दिया कि आधुनिक राज्य की परिकल्पना में कार्यपालिका जनता की सेवक होती है, पर सेक्शन 124 ए ने कार्यपालिका को जनता का राजा बना दिया है। तिलक के अनुसार उनके विचार प्रशासन की निंदा थे पर न्यायाधीशों ने उसे राज्य के ख़िलाफ़ असंतोष फैलाने की मंशा से प्रेरित बताया और इसी के साथ यह क़ानून द्वारा संरक्षित आलोचना के अधिकार की अवहेलना का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया।

एक और विरोधाभास जिसकी ओर लेखिका इशारा तो करती हैं, पर सम्यक चर्चा नहीं करतीं, वह था राजद्रोह शब्द का उस दौर के क्रांतिकारी आंदोलन से संबंध। राजद्रोह कमेटी रिपोर्ट सहित तमाम अन्य सरकारी दस्तावेज़ों में 'सिडीशनिस्ट मूवमेंट' से तात्पर्य मुख्यत: उन व्यक्तियों अथवा गुटों से है जो ब्रिटिश हुक़ूमत के ख़िलाफ़ हथियारबंद हिंसक संघर्ष में शामिल थे। ग़दर पार्टी, अनुशीलन एवं युगांतर जैसे संगठनों को इन दस्तावेज़ों में सिडीशनिस्ट बताया गया है। यह साफ़ है कि जहाँ एक ओर राजद्रोह क़ानून का लक्ष्य मुख्यत: अख़बार व अन्य तरह की छपाई के माध्यम से फैलने वाले सरकार-विरोधी विचारों को नियंत्रित करना था वहीं इन संगठनों की कार्यशैली इससे बहुत भिन्न थी। वे घोषित रूप से सरकार के ख़िलाफ़ एक युद्ध में थे जिसे नियंत्रित करने के लिए कई अन्य क़ानून मौजूद थे। इसके बावजूद इनको सिडीशनिस्ट कहना इस बात की ओर इशारा करता है कि सरकार की नज़र में हर आलोचना के स्वर का सीधा संबंध ब्रिटिश हुक़ूमत को गिराने की मंशा रखने वाली शक्तियों से था।

ऊपर से अपने को न्यायसंगत कहने वाली सरकार को इस बात का आभास था कि भारतीय जनता और उसके अपने हित आपस में परस्पर विरोधी थे और सरकार जनता की सहमति से नहीं

[6] वही : 146.

बल्कि डर से बनी हुई है। जहाँ राजद्रोह का क़ानून लोगों से वफ़ादारी की अपेक्षा करता था, वहीं सरकार ख़ुद इस डर में रहती थी हर समय ब्रिटिश हुकूमत को गिराने की साज़िश चल रही है। वह इस बात को कहीं न कहीं समझती थी कि सज़ा के डर से गुलामी करवाई जा सकती है पर वफ़ादारी नहीं पैदा की जा सकती जिसकी वजह से हर निंदा से उसे गद्दारी की बू आती रही। क़ानून के विरोध के हर स्वर को दबाने में इस तरह किये जा रहे इस्तेमाल की वजह से क़ानून के न्यायसंगत होने का मुग़ालता बनाए रखना मुश्किल था। इन मुक़दमों का तिलक जैसे क्रांतिकारियों ने ब्रिटिश क़ानून के इस विरोधाभास को उजागर करने के लिए भरपूर इस्तेमाल किया। लेकिन जहाँ वे एक ओर अपने बेगुनाह होने की दलीलें देते रहे वहीं पहली बार गाँधी ने अपने ऊपर हुए 1922 के राजद्रोह मुक़दमे में एक शैतानी व्यवस्था का अहिंसक विरोध करने को अपना धर्म बता कर और अपना गुनाह क़ुबूल करते हुए इस क़ानून और सरकार की नैतिक मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगा दिया।

इन सब मुक़दमों का एक प्रभाव यह हुआ कि एक कथित सिडीशनिस्ट लोगों की नज़र में गुनहगार की बजाय देशभक्त माना जाने लगा और इस क़ानून का सरकारी उपयोग काफ़ी कम हो गया। लेखिका ने राजद्रोह के भारतीय इतिहास पर अपनी चर्चा में इसके न्यायिक और राजनीतिक आयामों के अंतर्संबंधों को बख़ूबी पेश किया है। लेकिन ये अंतर्संबंध इंग्लैण्ड, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में राजद्रोह के इतिहास की चर्चा में कम ही देखने को मिलते हैं। इन देशों की इतने विस्तार से चर्चा शायद इस किताब के लिए सम्भव नहीं थी, लेकिन कहीं न कहीं उदारतावादी सिद्धांत की उस धारणा की छाप भी यहाँ दिखती है जिसमें आधुनिक पश्चिमी देशों में क़ानून और राजनीतिक सत्ता के ऐतिहासिक विकास में एक दूसरे से अलगाव माना गया है जबकि पूर्वी और औपनिवेशिक संदर्भों में इस अलगाव को नकारा गया है। कई सिद्धांतकारों ने हाल के वर्षों में क़ानून और राजनीतिक सत्ता के बीच अलगाव के इस तर्क को ख़ारिज किया है।

चौथे अध्याय में अनुष्का सिंह ने उत्तर औपनिवेशिक भारत की संविधान सभा और न्यायपालिका में राजद्रोह को लेकर हुई बहसों की चर्चा की है और इसके माध्यम से इस सवाल का उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश की है कि अगर औपनिवेशिक काल में राजद्रोह देशभक्ति का पर्याय बन गया और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक बड़ा मुद्दा बन गयी तो आख़िर आज़ादी के बाद धारा 124 ए को निरस्त क्यों नहीं किया गया? संविधान सभा में इस क़ानून को निरस्त करने के पक्ष में कुछ स्वर सामने आये जिन्होंने इस क़ानून को आज़ादी के आंदोलन की अवहेलना बताया, वहीं दूसरी ओर इस क़ानून को एक नवजात जनतांत्रिक देश की सुरक्षा, स्थायित्व एवं नागरिक अधिकार की गारंटी के लिए कई सदस्यों ने ज़रूरी बताया। अंतत: संविधान में शामिल किये आज़ादी के मूलभूत अधिकार पर लगाए गये कुछ प्रतिबंधों में राजद्रोह को शामिल नहीं किया गया। लेकिन यह एक खोखला और सांकेतिक क़दम ही साबित हुआ क्योंकि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 ए को ज्यों का त्यों बरक़रार रखा गया।

1950 में रोमेश थापर और बृज भूषण के मामलों में आये सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों से अभिव्यक्ति की आज़ादी का पक्ष और मज़बूत हुआ। रोमेश थापर मुक़दमे में कोर्ट ने 'राज्य की सुरक्षा' और 'पब्लिक आर्डर' को अलग-अलग रख 'पब्लिक ऑर्डर' बनाए रखने के नाम पर अभिव्यक्ति की आज़ादी पर प्रतिबंध लगाने को असंवैधानिक बताया। सरकार ने इन निर्णयों के आलोक में पहला संवैधानिक संशोधन किया और अनुच्छेद 19 (2) में 'प्रतिबंधों' के पहले 'उचित' (रीज़नेबल) शब्द जोड़ा गया। हालाँकि इसके साथ ही प्रतिबंध की शर्तों में 'पब्लिक ऑर्डर' (जो सुप्रीम कोर्ट के निर्णय के विपरीत था) और 'अन्य राष्ट्रों के साथ मैत्री संबंध' जोड़ दिया गया जिससे असल में प्रतिबंध की स्थितियों की सूची और भी लम्बी हो गयी। सुप्रीम कोर्ट की तीन निर्णयों— तारा सिंह गोपी (1950), सबीर रज़ा (1958) और राम नंदन (1958)— ने राजद्रोह क़ानून की संवैधानिकता पर सवाल उठाए और इस बात पर ज़ोर दिया कि सरकारी नुमाइंदों की निंदा से भले ही वे सत्ता से बाहर हो जाएँ फिर

भी सरकार की व्यवस्था बनी रहेगी और इसीलिए इस तरह की निंदा और असंतोष व्यक्त करने पर राजद्रोह नहीं लगाना चाहिए। लेखिका इन मामलों के अध्ययन में भी इस क़ानून के इस्तेमाल के राजनीतिक पक्ष पर और ध्यान दे सकती थीं और इस सवाल पर और चर्चा कर सकती थीं कि आख़िर राजद्रोह के अधिकतर मामले कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ ही क्यों दायर किये गये?

1962 के केदारनाथ फ़ैसले में सुप्रीम कोर्ट ने धारा 124 ए में असंतोष का मूल्यांकन इस रूप में करने को कहा कि जिससे हिंसा के भड़कने की प्रवृत्ति परखी जा सके। यह निर्णय तब से धारा 124 ए के मुक़दमों में एक दिशा-निर्देश की तरह अपनाया गया। लेकिन गौतम भाटिया के अनुसार अभिव्यक्ति में हिंसा भड़काने की प्रवृत्ति की परख को लेकर किसी ठोस जाँच को न सुझाना इस निर्णय के प्रभाव को कमज़ोर करता है।[7] इसी बीच 1963 में सरकार ने संविधान का सोलहवाँ संशोधन पारित किया जिसके तहत अनुच्छेद 19(2) में 'देश की अखण्डता और सम्प्रभुता के हित में' अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में कुछ नये 'उचित प्रतिबंध' (रीज़नेबल रिस्ट्रिक्शंस) जोड़े गये।

सत्तर के दशक के आपातकाल और अस्सी के दशक से लगातार पारित अथवा मज़बूत किये गये सुरक्षा क़ानूनों— यूएपीए; टाडा एवं पोटा— ने राज्य सरकारों और पुलिस को और आसानी से लोगों को हिरासत में लेने, ज़मानत निरस्त करने और सज़ा दिलवाने की अभूतपूर्व शक्तियाँ प्रदान की। दो प्रधानमंत्रियों की हत्या, अलगाववादियों, नक्सलियों, आतंकवादियों इत्यादि के बढ़ते प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए इन क़ानूनों को ज़रूरी बताया गया। इन क़ानूनों के प्रचलित होने के बाद राजद्रोह क़ानून को इन क़ानूनों के साथ लगाया जाने लगा जिससे केस और पुख़्ता हो सके। चार्जशीट में इन सब धाराओं के लगाए जाने के बाद निचली अदालत से सज़ा और सालों तक जेल में रहने के बाद अभियुक्तों का ऊपरी अदालत से बरी होना एक प्रचलन-सा बन गया। विनायक सेन और पीयूष गुहा जैसे कितने ही मामलों में कोर्ट ने निचली अदालत के फ़ैसलों पर सवाल उठाए और भविष्य के लिए सख़्त निर्देश दिये, फिर भी यह कहा जा सकता है कि निचली अदालतें यूएपीए और राजद्रोह की धाराएँ लगते ही अभियुक्त के ख़िलाफ़ हो जाती हैं जिसका फ़ायदा पुलिस और प्रशासन उठाता है। लेखिका निचली अदालतों और पुलिस के बीच गुणवत्तापूर्ण क़ानूनी और न्यायिक शिक्षा के अभाव को इस दुरुपयोग का दोषी मानती हैं जो कि कुछ हद तक सही भी है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि यह दुरुपयोग सत्ताधारी राजनीतिज्ञों की इच्छा के बिना हो रहा है। कई राजनीतिज्ञों, समाज सेवकों, अकादमिकों और ऊपरी अदालतों आदि द्वारा इस क़ानून को असंवैधानिक बताने के बावजूद इसका बने रहना और राज्य सरकारों द्वारा इसके इस्तेमाल की मुख्य प्रवृत्तियों पर नज़र डालने से यह बात साफ़ हो जाती है।

पाँचवाँ अध्याय उत्तर-औपनिवेशिक भारत की आम जनता ख़ास कर पिछड़ी जातियों, वर्गों और समुदायों के जीवन में राजद्रोह क़ानून के प्रभाव का एक बेहतरीन अध्ययन है। न्यायिक विमर्श से कोसों दूर इस दुनिया में राजद्रोह क़ानून न सिर्फ़ सालों तक उन लोगों के जेलों में सड़ने का पर्याय बना जो अंत में बेगुनाह साबित हुए बल्कि इसके बावजूद देशद्रोही होने का इलज़ाम समाज में उनके लिए कभी न मिट पाने वाली बदनामी बन गया। अनुष्का सिंह ने हरियाणा, पंजाब और महाराष्ट्र में इन तबक़ों के लोगों पर लगाए गये राजद्रोह के मामलों का अध्ययन किया है और यह दिखाया कि ज़्यादातर मामलों में ग़रीब किसानों, दलितों और आदिवासियों की ज़मीन, हक़ और सम्मान की माँग कर रहे लोगों पर ही यह धारा लगाई गयी है। हरियाणा के तीन संगठनों— जागरूक छात्र मोर्चा, क्रांतिकारी मज़दूर किसान यूनियन, शिवालिक जन संघर्ष मंच— पर कांग्रेसी राज्य सरकारों द्वारा चलाए गये

[7] गौतम भाटिया (2016).

राजद्रोह के मुक़दमों का अध्ययन कर उन्होंने यह दिखाया कि ये सभी मामले सामाजिक रूप से दबंग तबक़ों के दबाव में बनाए गये। अनुष्का ने अरुण फ़रेरा, सीमा आज़ाद, सूज़न अब्राहम, वेर्नोन गोंज़ाल्वेज़, असीम त्रिवेदी आदि लेखकों और कार्यकर्ताओं पर हुए राजद्रोह के मुक़दमों की भी चर्चा की है। अधिकतर राजद्रोह के मामले इस बात की पुष्टि करते हैं कि जहाँ एक ओर इस क़ानून के द्वारा अभियुक्त बनाए गये अधिकतर लोगों का समाज में हिंसा, नफ़रत अथवा अशांति फैलाने वाली किसी तरह की 'एक्सट्रीम स्पीच' से संबंध न के बराबर रहा है, वहीं दूसरी ओर ये मामले सत्ता पक्ष द्वारा अपने राजनीतिक विरोधियों अथवा जन-आंदोलन से जुड़े कार्यकर्ताओं को सज़ा देने के लिए और उनकी सामाजिक स्वीकृति को ध्वस्त करने के लिए दायर किये जाते रहे हैं। इसके बावजूद इस क़ानून के राजनीतिक मायनों को प्राथमिकता दिये बिना इसे 'एक्सट्रीम स्पीच/फ्रीडम ऑफ़ स्पीच' के द्विभाजन में देखने के उदारतावादी विमर्श के दृष्टिकोण से राजद्रोह पर हुआ अधिकतर अकादमिक लेखन प्रभावित है। अपनी किताब में कई जगह इसके राजनीतिक आयाम के चर्चा करने के बावजूद इसकी झलक अनुष्का सिंह के तर्कों में भी दिख जाती है।

राजद्रोह के कुछ मामले जो स्वघोषित अलगाववादियों पर दायर किये गये थे, उनमें चर्चित मामलों में से एक था ख़ालिस्तान आंदोलन से जुड़े बलवंत सिंह पर 'ख़ालिस्तान जिंदाबाद' जैसे नारे लगाने के लिए दायर किया गया मुक़दमा। लेकिन इस मामले में भी आख़िरकार अदालत ने अभियुक्त को राहत दी। न्यायाधीशों को इन नारों के लगने के कारण भारतीय राज्य व्यवस्था पर किसी तरह का ख़तरा होता नहीं दिखा। कोर्ट ने यह भी कहा कि अभियोजन पक्ष न तो यह सिद्ध कर सका कि किसी भी तरह की हिंसक घटनाएँ इन ख़ास नारों की वजह से हुईं और न ही यह कि इन नारों को लगाने के पीछे अभियुक्त की हिंसा फैलाने की कोई मंशा थी।

अनुष्का सिंह ने इन सभी न्यायिक फ़ैसलों का अध्ययन करके यह स्थापित किया है कि राजद्रोह क़ानून और संविधान द्वारा प्रदान किये गये स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार में एक विरोधाभास है। वे मानती हैं कि जनतांत्रिक रूप से मौजूदा राज्य व्यवस्था में बदलाव की कोई भी बात असंवैधानिक नहीं कही जा सकती। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ना चाहिए कि सरकार को ये माँगे सही लगती हैं या नहीं। असल में तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सही परख ही तब होती है जब अभिव्यक्ति सत्ता में बैठे लोगों के विचार से मेल न खाती हो। अनुष्का सिंह की यह किताब भारत में राजद्रोह और उसके जैसे अन्य क़ानूनों के माध्यम से राज्य द्वारा निचले स्तर पर सामाजिक कार्यकर्ताओं और आंदोलनों से जुड़े लोगों को मुक़दमों में बिना दोष साबित किये सालों तक जेल में बंद रखने और सामाजिक बदनामी झेलने का बेहतरीन रूप से अध्ययन करती है। यह एक ऐसा आयाम है जिस पर अन्य क़ानून और न्याय व्यवस्था से जुड़ी अकादमिक चर्चाओं में ज़्यादा तवज्जो नहीं दी जाती। इस किताब में की गयी चर्चाएँ इस बात को भी स्थापित करती हैं कि क़ानून को राज्य और समाज की शक्ति संरचनाओं और उनके हितों से अलग कर के नहीं देखा जा सकता।

इस किताब के आख़िरी अध्याय में कश्मीर, जनेवि आदि के छात्रों, कुडनकुलम के परमाणु संयंत्र विरोधी कार्यकर्ताओं, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और ओड़िसा के जनजातीय क्षेत्रों में बड़ी कॉरपोरेट कम्पनियों द्वारा किये जा रहे भूमि अधिग्रहण का विरोध कर रहे लोगों, पत्रकारों आदि पर लगे हालिया मुक़दमों का अध्ययन किया गया है। इन मुक़दमों के दौरान 'माओवाद समर्थक', 'एंटी-नैशनल' आदि शब्दों का भरपूर प्रयोग आम जनता के बीच मीडिया-ट्रायल करने के लिए और इस तरह इन लोगों को पहले से ही दोषी साबित करने के लिए किया जा रहा है। इस किताब के प्रकाशन के बाद एक नया शब्द— अर्बन नक्सल— प्रचलन में लाया गया है। इन मामलों की पड़ताल में इन सवालों के नये संदर्भ ख़ासकर नव-उदारतावाद के आगमन के मायने और उसके प्रभाव पर चर्चा की कमी किताब में दिखती है। इसके बग़ैर पिछले दो-तीन दशकों में आये काले क़ानूनों के नये युग को नहीं समझा

जा सकता। मेरा यह मानना है कि ख़ासकर राज्य की सुरक्षा को स्थापित करने वाले क़ानूनों के अध्ययन के लिए (हालाँकि यह बात अन्य क़ानूनों पर भी लागू होती है) राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन बेहद ज़रूरी है।

एक और बात पर ग़ौर किया जाना चाहिए कि नव-उदारतावादी दौर का कोई आक्रामक राज्य जब ख़ुद ही याचिकाकर्ता और ख़ुद ही जाँचकर्ता हो तो न्याय करने का पूरा भार एक स्वतंत्र न्यायपालिका पर आ जाता है। 'राष्ट्रीय सुरक्षा' और 'राष्ट्र-विरोधी ताक़तों' के द्विभाजन का विमर्श न्यायालय पर 'राष्ट्रहित' को तरजीह देने का दबाव बनाने का काम करता है। हाल के मामलों में 'नेशनल कॉन्सेंश' जैसे मनगढ़ंत शब्द के आधार पर दिये गये फ़ैसले यह बताते हैं कि राष्ट्रवादी-विमर्श का यह दवाब काम कर रहा है और फ़ैसले जाँच व सबूतों के मूल्यांकन से पहले ही लगभग तय हो जाते हैं। राज्य की सुरक्षा को नागरिक अधिकारों पर तरजीह देने वाला यह आक्रामक राष्ट्रवादी-विमर्श अब पूरी दुनिया में मज़बूत हो रहा है। लेखिका बताती हैं कि फिर भी जहाँ एक ओर पश्चिम के देशों में नये क़ानूनों के आगमन के साथ राजद्रोह क़ानून को निरस्त कर दिया गया है, वहीं ऐसा लगता है कि भारत में अन्य क़ानूनों के साथ मिल कर राजद्रोह क़ानून को एक नयी ज़िंदगी मिल गयी है।

अंत में लेखिका ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि राजद्रोह का स्वरूप राजनीतिक अपराध का है और हर दौर में सत्ता द्वारा इसका इस्तेमाल अपने राजनीतिक विरोध को दबाने के लिए किया जाता रहा है। आज के आक्रामक राष्ट्रवाद की व्यापक स्वीकृति के दौर में सत्ता-विरोध को राष्ट्र-विरोध से जोड़ देने के ज़रिये ऐसे विरोधों और उससे निबटने के लिए बने राजद्रोह व दूसरे कठोर क़ानूनों के राजनीतिक चरित्र पर पर्दा डालने का प्रयास किया जा रहा है। मेरा मानना है कि किसी भी दौर में राजनीतिक अभिव्यक्ति, जो सत्ता से असहमति ही हो सकती है क्योंकि सहमति में सर हिलाने की आज़ादी हमेशा रही है, की अप्रतिबंधित आज़ादी किसी सत्ता ने अपनी इच्छा से नहीं दी है। सुकरात के दौर से ही यह देखने को मिला है कि राजनीतिक सत्ता से असहमति व्यक्त करने की आज़ादी एक राजनीतिक दावा है जिसको आधुनिक दौर में उदारतावादी विमर्श ने ग़लत रूप में एक ग़ैर-राजनीतिक कृत्य अथवा अधिकार के रूप में समझा है। 'राष्ट्रहित' में की गयी अभिव्यक्ति को ही न्यायोचित मानना अभिव्यक्ति के ग़ैर-राजनीतीकरण की प्रक्रिया का नया दौर है।

संदर्भ

अनुष्का सिंह (2018), *सिडीशन इन लिबरल डेमॉक्रैसीज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज्यॉर्जियो अगम्बेन (2005), *स्टेट ऑफ़ एक्सेप्शन,* द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

गौतम भाटिया (2016), *ओफेंड, शॉक ऑर डिस्टर्ब : फ़्री स्पीच अंडर द इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

नासिर हुसैन (2003), द *जूरिसप्रुडेंस ऑफ़ इमरजेंसी : कोलोनिअलिज़म ऐंड द रूल ऑफ़ लॉ,* द युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, एन अरबॉर, यू. एस. ए.